04 स्कूल एवं नेतृत्व : एक समीक्षात्मक दृष्टि

वेणु एन.

स्कूल और स्कूली तंत्र पेचीदा संगठन होते हैं जिनका कार्य सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों से बहुत महत्वपूर्ण होता है। स्कूली तंत्रों से मिलने वाली शिक्षा के नतीजे विद्यार्थियों के व्यक्तिगत विकास और कल्याण में भी योगदान करते हैं। फिर भी स्कूली शिक्षा के लक्ष्य आमतौर पर अस्पष्ट या अधूरे ढंग से उल्लिखित होते हैं और अकसर ही परिणामों का आकलन कर पाना मुश्किल होता है। उनके सामाजिक व आर्थिक महत्व को व्यापक रूप से स्वीकृत किया जाता है पर शिक्षा को फिर भी संसाधनों के अकाल से जूझना पड़ता है। भारत जैसे देशों में स्कूल ऐसे विशाल प्रशासनिक ढाँचों के अंग होते हैं जिनका स्वरूप वर्ग–आधारित व केन्द्रीकृत होता है। वे अत्यन्त जटिल परिवेशों में काम करते हैं जहाँ जबरदस्त सांस्कृतिक व सामाजिक–आर्थिक विविधता होती है। इस जटिलता व सामाजिक महत्व के संयोजन ने स्कूलों और शिक्षातंत्रों की प्रभावोत्पादकता के बारे में काफी चिन्ताएँ पैदा की हैं।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था को अपने परिणामों व कार्यविधियों, दोनों ही आधारों पर व्यापक रूप से घटिया स्तर का माना जाता है। भारत का बृहद शिक्षातंत्र अभाव की इस कहानी का एक अहम भाग है। स्कूलों के प्रदर्शन को सुधारने के लिए क्या करना पड़ेगा? ज्यादा असरदार अध्यापन व अध्ययन इसका सहज उत्तर है। बेहतर पाठ्यक्रम भी इस सुधार का एक हिस्सा होगा। इसी सन्दर्भ में कई टीकाकार स्कूलों के बेहतर प्रबन्धन और नेतृत्व के महत्व की बात करते हैं। वे दावा करते हैं कि जटिल प्रकृति के संगठनों का प्रबन्धन अच्छा होना बहुत जरूरी है। अच्छा नेतृत्व अच्छे प्रबन्धन का अभिन्न हिस्सा है।

यह आसानी से समझा जा सकता है कि ऊपर व्यक्त किए गए दृष्टिकोण से स्वाभाविक रूप से ऐसी दलीलों को बल मिलता है जो स्कूली तंत्रों के भीतर नेतृत्व को बेहतर बनाने पर ध्यान केन्द्रित करने की जरूरत की बात करती हैं। सार्वजनिक शिक्षा विभागों में यह एक पारम्परिक मान्यता है कि शिक्षक ''वरिष्ठता'' हासिल कर लेते हैं और फिर प्रधानाध्यापक तथा बीईओ (ब्लॉक शिक्षा अधिकारी) बन जाते हैं। सरकारी सेवा में बिताए गए कई वर्ष ही उन्हें नेतृत्व की किसी भूमिका के लिए योग्य बनाने हेतु पर्याप्त होते हैं। इसी मान्यता पर प्रभावकारी स्कूल प्रबन्धन के समर्थक प्रश्न खड़े करते हैं।

इस दृष्टिकोण में सिफारिश करने जैसा काफी कुछ है। यह कई तरह से गैर–विवादास्पद लगता है। यदि स्कूल बहुत सारे साझेदारों व भागीदारों वाले संगठन हैं, जिनके लक्ष्य व परिणाम समाज के लिए बेहद महत्वपूर्ण हैं, तो फिर यह तकरीबन स्वयंसिद्ध हो जाता है कि उनका कुशल नेतृत्व व प्रबन्धन किया जाना जरूरी है। मैं इस दृष्टिकोण का खण्डन करने की मंशा नहीं रखता। मेरा उद्देश्य स्कूल के नेतृत्व के विचार को संगठित ढाँचों के रूप में स्कूलों के विकास के इतिहास के सन्दर्भ में रखना है और यह दिखाने की कोशिश करना है कि वैकल्पिक पद्धतियाँ मौजूद हैं, जिनसे कई सार्थक सबक सीखे जा सकते हैं। ये ''सबक'' तब और भी महत्वपूर्ण हो जाते हैं जब हम विवाद के आधारों – शिक्षा के लक्ष्य तथा किसी नेतृत्व की सफलता को तय करने के मानदण्ड – पर सवाल खड़े करना शुरू कर दें।

नेतृत्व उद्योग

नेतृत्व की कई व्याख्याएँ इसे एक ऐसी विशेषता के रूप में परिभाषित करती हैं जो कुछ व्यक्तियों के पास होती हैं या जिसे वे हासिल कर लेते हैं। फिर इसकी बदौलत वे दूसरे व्यक्तियों और समूहों को प्रभावित करके उन्हें किसी साझा लक्ष्य की ओर बढ़ने को प्रेरित कर सकते हैं। इसके चलते इस गुण के अवयवों को पहचानने के लिए, और यह स्पष्ट करने के लिए कि इस तरह की क्षमताएँ किस प्रकार हासिल की जा सकती हैं, जबरदस्त प्रयास किए गए हैं। इस शोध का काफी बड़ा हिस्सा व्यवसायिक संगठनों के अध्ययनों से उत्पन्न हुआ है। चूँकि इसमें बहुत से हित शामिल हैं, अतः संगठनात्मक शोध में ''नेतृत्व–अध्ययन'' एक महत्वपूर्ण और कभी–कभी लाभप्रद साबित होने वाला तत्व हो गया है।

नेतृत्व की एक खास तत्व के रूप में पहचान किए जाने का प्रभाव यह हुआ कि लोग अकसर मान लेते हैं कि यदि कोई संगठन सफल हुआ है तो उसके पीछे निश्चित ही उसके शीर्षस्थ व्यक्ति का हाथ होगा। जैसा कि हम जानते हैं, संगठनों के अन्दर शीर्ष के प्रबन्धन–पदों की तनख्वाहों पर इसका सकारात्मक असर हुआ है। लेकिन, विरोधी स्वर चेतावनी देते हैं कि संगठन की सफलता (या असफलता) कहीं ज्यादा पेचीदा मामला होता है। उसे शीर्षस्थ लोगों के गुणों मात्र से जोड़कर नहीं समझा जा सकता। अच्छे नेता के गुणों को पहचानने की व किसी सम्भावित नेता को पोषित करने वाली प्रक्रियाओं को खोजने की कोशिशों में ढेर सारा वक्त व संसाधन खर्च करने के बाद भी नतीजे मिले–जुले ही रहे हैं। खैर, यहाँ मैं इस शोध की आलोचनात्मक समीक्षा करने की मंशा नहीं रखता हूँ। यहाँ मैं सिर्फ शिक्षा के चुनौतीपूर्ण सन्दर्भों में नेतृत्व के पारम्परिक प्रतिरूपों के समक्ष आने वाली कुछ कठिनाइयों की थोड़ी चर्चा करूँगा।

मशीन में प्राण

भारत का सार्वजनिक स्कूल तंत्र एक विशाल मशीन है। इसका ढाँचा इस मान्यता पर टिका है कि इतने बड़े तंत्र में भी एक केन्द्रीय

सत्ता चीजों के प्रदर्शन को निर्धारित करने, नियोजित करने व नियंत्रित करने का काम कर सकती है। इस केन्द्रीकरण के कारण का एक अंश उस औपनिवेशिक एजेंडे में ढूँढा जा सकता है जिसके चलते भारत में संगठित स्कूली तंत्रों की स्थापना हुई। जब स्वतंत्रता के बाद शिक्षातंत्र का विस्तार हुआ तब वैकल्पिक ढाँचों के विकास के माध्यम से संगठनात्मक नूतनता लाने को किसी ने भी गम्भीरतापूर्वक एक विकल्प नहीं माना। पहले से मौजूद व्यवस्था को ही और विस्तृत कर दिया गया, जिसके भयावह नतीजे सामने आए। निजी क्षेत्र में भी, पिछले सौ सालों में स्कूलों के ढाँचे में लगभग कोई भी बदलाव नहीं आया है।

भारत में, सार्वजनिक व निजी, दोनों ही तरह की स्कूल प्रणालियों में केन्द्रीकरण और कठोरता की वजह से उनके प्रबन्धन पर नकारात्मक असर पड़ा है। अधिकांश पर्यवेक्षक यह मानते हैं कि यह तंत्र प्रभावशाली ढंग से ''चलाए जाने'' के लिए ज्यादा ही बड़ा है। धीरे–धीरे राजनैतिक व संगठनात्मक, दोनों ही तरह के निहित स्वार्थों का बढ़ता जाना बदलाव की राह में एक बड़ी बाधा बन गया। भारत में, प्राथमिक शिक्षा के लिए दी जाने वाली निधि में हालिया समय में आई लहर का उलटा ही असर हुआ है। इससे निहित स्वार्थों को और ज्यादा मजबूती मिल गई है व ढाँचागत बदलाव लाना और भी मुश्किल हो गया है। इन हालातों में, स्कूलों और शिक्षा–विभागों का नेतृत्व बेहद कमजोर प्रक्रिया हो गई है। इस तंत्र में काम करने वाले बहुसंख्यक कर्मचारी अकसर कहीं और लिए जाने वाले निर्णयों व आदेशों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता होते हैं। यहाँ तक कि शीर्ष पदाधिकारी भी अकसर कोई बदलाव ला पाने में ''असमर्थता'' का इजहार करते हैं।

नेतृत्व क्षमता का पता लगाना

किसी व्यक्ति में विशिष्टताओं व गुणों के मूर्तरूप में सामने आने को नेतृत्व मानने के विचारों को सबसे अधिक दृढ़ता से सैन्य संगठनों में अपनाया गया है। सबसे सफल सैन्य अभियान सर्वदा सफल नेतृत्व की कहानियाँ हैं जिनसे उनके सेनापतियों को वाहवाही और कीर्ति हासिल हुई है। द्वितीय विश्वयुद्ध से महान व साधारण सेनापतियों की ढेर सारी गाथाएँ निकल कर आई हैं। औद्योगिक क्रान्ति और विशाल वर्गीकृत ढाँचे वाले व्यवसायिक संगठनों के अस्तित्व में आने से असैन्य क्षेत्र में भी इसी तरह के विचारों का उद्भव होने लगा। इस उद्भव को सेना व उसके सदृश अन्य संगठनों द्वारा खड़ी की जाने वाली चुनौतियों की रोशनी में आसानी से समझा जा सकता है। सुस्पष्ट रणनीतियों को अमली जामा पहनाने के लिए या फिर या उत्पादन प्रक्रिया की शृंखला में बहुत सारे लोगों को शीघ्रता से तैनात करने की जरूरत ने आज्ञा और नियंत्रण को श्रेयस्कर क्रियात्मक रणनीति बना दिया। इस कार्यविधि ने निर्णय करने के बोझ को ऊपर के सोपानों पर डाल दिया। इस पद्धति में सफलता के लिए व्यक्तिगत स्पष्टता, बुद्धिमत्ता और आकर्षण का बहुत बड़ा किरदार होता है।

> *भारत में, प्राथमिक शिक्षा के लिए दी जाने वाली निधि में हालिया समय में आई लहर का उलटा ही असर हुआ है और इससे निहित स्वार्थों को और ज्यादा मजबूती मिल गई है व ढाँचागत बदलाव लाना और भी मुश्किल हो गया है। इन हालातों में, स्कूलों और शिक्षा–विभागों का नेतृत्व बेहद कमजोर प्रक्रिया हो गई है।*

इस लेख में मेरा तर्क यह है कि हमें नेतृत्व की अवधारणाओं को ऐसे तरीकों से पुनःप्रतिपादित करने की जरूरत है जो उसे सिर्फ व्यक्तियों को हासिल कुछ विशेषताओं या फिर उनके द्वारा शुरू की गईं कुछ प्रक्रियाओं तक सीमित करके न देखते हों। हालाँकि नेतृत्व के बारे में इस तरह की विशेषता–आधारित या प्रक्रिया–आधारित परिकल्पना आकर्षक रूप से सरल है, पर इस बात का स्पष्ट ढंग से पता लगाना मुश्किल रहा है कि संगठनात्मक सफलता अनिवार्य रूप से उसके नेता के गुणों का ही परिणाम होती है। इसके अलावा, ऐसे अति सक्रिय क्षेत्रों, जहाँ उद्देश्यों पर विवाद होता है व विभिन्न कार्यपद्धतियाँ स्वीकार्य होती हैं, जैसे कि शिक्षा, के लिए मैं सुझाव देना चाहूँगा कि संगठनात्मक संरचना व नेतृत्व की वैकल्पिक अवधारणाएँ यदि अधिक नहीं तो उतनी प्रासंगिक तो हैं ही जितनी कि मौजूद अवधारणाएँ। मैं बाकी के लेख में इन विचारों को विस्तार दूँगा।

कुछ पाठक यह विरोध कर सकते हैं कि इतिहास ऐसे व्यक्तियों के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिनके निजी गुणों ने विशाल जनसंख्याओं और सघन ऊर्जा को एकता के धागे में पिरो दिया। समाजशास्त्री मैक्स वैबर ने इसे करिश्माई प्रभुत्व का इस्तेमाल कहा है। गाँधी, मण्डेला और चर्चिल दिमाग में एकदम से आने वाले इसके कुछ उदाहरण हैं। हिटलर भी। मैं लोगों पर करिश्माई व्यक्तित्वों के पड़ने वाले प्रभाव से इंकार नहीं कर रहा हूँ। लेकिन, जिन सन्दर्भों में इस तरह के गुणों का इस्तेमाल किया जाता है वे आमतौर पर ज्यादा सीमित और कम संगठित होते हैं। मैं फिर कहता हूँ कि उन संगठनों की बात काफी अलग है जो लम्बे समय तक अस्तित्व में रहते हैं और जहाँ लोग अकसर पूरा जीवन व्यतीत कर देते हैं।

मैं यह भी कहना चाहूँगा कि आधुनिक संगठन, खासतौर पर ज्ञान तथा शिक्षा क्षेत्र के, पूर्णतः भिन्न चुनौतियों का सामना करते हैं। वे गतिमान बाह्य परिवेशों, अन्जान खतरों और बिखरी हुई विशेषज्ञता का सामना करते हैं। संगठनात्मक सीढ़ी के सबसे निचले पायदान

तक सृजनात्मक ढंग से समस्याओं का निपटारा कर सकना बहुत बड़ी सुविधा है। इस परिवेश में आदेश और नियंत्रण बिलकुल प्रभावहीन हैं।

मैंने नेतृत्व की धारणा की बात प्रभाव के रूप में की थी। भागीदारों को सृजनशील प्रदर्शन और पढ़ाई के लिए प्रभावित करना स्कूलों व स्कूली तंत्रों की प्रकृति को परिभाषित करता है। इस अर्थ में, प्रत्येक शिक्षक को नेतृत्व का प्रदर्शन करना जरूरी है, न कि सिर्फ प्रधानाध्यापकों, निदेशकों या आई.ए.एस. अफसरों को। नेतृत्व की इतनी सूक्ष्मीकृत धारणा के लिए, जो कि उसे संगठन के हर स्तर पर स्थित करती है, जरूरी होता है कि स्कूलों में और स्कूली तंत्रों में प्रभुता व निर्णय–प्रक्रिया का एक पूर्णतः वैकल्पिक बँटवारा हो। चूँकि हमारे स्कूल बिरले ही इस ढंग से शिक्षकों व अन्य भागीदारों को शक्ति देते हैं, अतः हमारे हाथ संगठन का वही सैन्य प्रतिरूप रह जाता है जो उस लक्ष्य को पाने के लिए बिलकुल ही अनुचित होता है जिसे पाने के लिए उसका गठन हुआ होता है।

नेतृत्व की संस्कृति

चलिए ''ऐडुटोपिया'' में चलते हैं। मान लें कि यह एक काल्पनिक समाज है जहाँ के स्कूल और इसी तरह के अन्य संगठन ऊपर मेरे द्वारा वर्णित भारतीय सन्दर्भ की संस्थाओं से काफी अलग हैं। ऐडुटोपिया में नेतृत्व पर किन्हीं खास शख्सियतों का एकाधिकार नहीं है। ऐडुटोपिया में लोगों ने नेतृत्व का एक वैकल्पिक सूत्र बना रखा है। यहाँ नेतृत्व स्कूलों की संस्कृति में ही मौजूद है। ऐसी संस्कृति नई पहलों, सृजनशील सोच और स्कूलों व स्कूली तंत्रों के सभी स्तरों पर जिम्मेदारी लेने के लिए लोगों को मदद करती है व प्रोत्साहित करती है। इस व्यवस्था के सदस्यों को अपने लक्ष्यों की कल्पना करने, ''पुनर्कल्पना'' करने और उन्हें हासिल करने हेतु रचनात्मक पद्धतियाँ खोजने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। जिस परिवेश में ये संगठन कार्य करते हैं वह विविधता से भरा हुआ, पेचीदा और असमान होता है। ऐडुटोपिया के स्कूलों का कार्य है ऐसी शिक्षा को आगे बढ़ाना जो कि सीखने वालों की जरूरतों व रुचियों के अनुकूल हो। इस अर्थ में प्रत्येक शिक्षक एक नायक है। निश्चित ही, संगठनों के ''ऊँचे स्तरों'' पर लोग बैठे हुए हैं, पर उनका कार्य और प्रभाव अपने ''अधीनस्थों'' को स्वायत्तता से वंचित करने पर ही निर्भर नहीं रहता।

मैंने दो दशकों से भी ज्यादा समय तक बंगलौर के बाहर स्थित सैन्टर फॉर लर्निंग (सीएफएल) नामक एक छोटे से वैकल्पिक स्कूल में काम किया है जो इस तरह के ढाँचे को साकार करने की कोशिश करता है। यह स्कूल शिक्षकों के द्वारा ही चलाया जाता है। यह वर्गरहित है और इसकी संस्कृति लोकतांत्रिक है। निर्णय करने के अधिकार व नई पहल करने की सम्भावनाएँ बँटी हुई हैं। आपसी सम्बन्ध सहकर्मी भावना व सहयोग पर आधारित हैं। सीएफएल के शिक्षक मानते हैं कि यदि शिक्षा के लक्ष्यों की कल्पना प्रचलित से कहीं ज्यादा विस्तृत ढंग से की जाती है, तो पारम्परिक नेतृत्व उन लक्ष्यों को प्राप्त करने में असफल हो जाता है।

मैं यह मानता हूँ कि इस तरह का ढाँचा मुख्यधारा के भारतीय सन्दर्भ के लिए तकरीबन हास्यास्पद रूप से असम्भव है। स्कूलों की इस ढंग से पुनर्संरचना करना, जिसमें सत्ता को फैला दिया जाए व स्वायत्तता का बँटवारा कर दिया जाए, बहुत जोखिम भरा माना जाएगा। एक अन्य वाँछित प्रतीत होने वाली चिन्ता यह भी है कि हमारे स्कूली तंत्रों के सदस्यों को इस तरह के ढाँचे में परिवर्तन करने से पहले पर्याप्त रूप से तैयारी करनी पड़ेगी। संगठनात्मक नेतृत्व के ऐसे वैकल्पिक प्रतिरूप ऐसे महत्वपूर्ण आकाशदीप हैं जो हमें नई सम्भावनाओं की झलक दिखाते हैं। यदि ये प्रयोग ''विफल'' भी हो जाएँ तो भी वे हमें मूल्यवान सीख प्रदान करेंगे।

उग्र सामाजिक सिद्धान्तकार स्कूलों के वर्तमान संगठनात्मक स्वरूपों को समाज के मौजूदा सत्ता सम्बन्धों का आईना मानते हैं। वे संशय से भरकर स्कूलों की इसके लिए आलोचना कर सकते हैं कि स्कूल बदलाव के अगुआ की तरह कार्य करने की बजाय यथास्थिति के रक्षकों की तरह काम करते हैं। स्कूल समाज में दिखाई देने वाले सत्ता और विशेषाधिकार के मौजूदा ढाँचों को ही पैदा करते जाने व उन्हें जस का तस बनाए रखने के लिए कार्य करते हैं। तब आखिर क्यों ऐसे तंत्र उस हंगामे को आमंत्रित करेंगे जो अधिक लोकतांत्रिक स्वरूपों में साफ दिखाई देते हैं? सम्भवतः इसका उत्तर यह है कि ऐसी शिक्षा, जो समीक्षात्मक क्षमताएँ विकसित करके, तथा व्यक्तिगत जरूरतों को मद्देनजर रखने वाली शिक्षा मुहैया कराके सामाजिक न्याय को बढ़ावा देती है, को अपने संगठनात्मक स्तर पर ही ज्यादा समतावादी होना जरूरी है। संगठनात्मक प्रक्रियाओं में तथा उनके सदस्यों की स्वायत्त पहलों में नेतृत्व क्षमताओं को स्थापित करके ही हम और अधिक कल्याण व न्याय की सम्भावना बढ़ा सकेंगे। यदि ऐसे ढाँचे असम्भव हैं तो फिर सामाजिक न्याय व ''सर्वकल्याण'' के बृहद लक्ष्य भी असम्भव हो जाते हैं। शिक्षकों के रूप में, हमें यथास्थिति के आगे घुटने टेक देने के प्रलोभन पर काबू पाना होगा और बदलाव के रास्तों की खोज को जारी रखना होगा।

वेणु अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के शिक्षक समूह के सदस्य हैं तथा माइण्ड एण्ड सोसायटी इनीशियेटिव के संयोजक हैं। वे एक शिक्षक के रूप में, तथा सैन्टर फॉर लर्निंग, बंगलौर के एक संस्थापक सदस्य के रूप में पिछले दो दशकों से भी ज्यादा समय से स्कूली शिक्षा के क्षेत्र में सक्रिय हैं। उनका ईमेल है venu@apu.edu.in